सभ्यता के प्रारम्भ से ही दर्शन विद्यावान् लोगों के बीच विशेष अभिरुचि का विषय रहा है। भारत में वेदों एवं उपनिषदों के समय से ही दार्शनिक जिज्ञासा एवं दार्शनिक चिन्तन का ज्ञानपिपासु पृच्छाशील विद्वानों और बुद्धजीवियों के बीच प्रचलित प्रतिष्ठित रहे। उदाहरण के लिए ऋग्वेद में जहाँ-तहाँ सृष्टि के प्रारम्भ, दृश्यमान जगत् के उपादान द्रव्य एवं रचयिता आदि के सम्बन्ध में काव्यात्मक ढंग से प्रश्न उठाये गये। प्रसिद्ध नारदीय सूक्त इस कोटि की प्रश्नाकुलता तथा जिज्ञासा का श्रेष्ठ निदर्शन है। यहाँ ध्यातव्य है कि ऋग्वेद भाषाबद्ध साहित्य का प्रायः सबसे प्राचीन उदाहरण है। ऋग्वेद का रचना-काल प्रायः 3000 से 1500 ई. पू. के बीच माना जाता है। प्राचीनतम उपनिषद् ईसा के आठवीं शती पूर्व की रचनाएँ माने जाते हैं। उनमें आत्मा के स्वरूप आदि से सम्बद्ध जिज्ञासा सर्वत्र मुखरित है। कहना नहीं होगा कि भारतवर्ष में घटित बाद के दर्शनों के विकास पर उपनिषदों का व्यापक और गम्भीर प्रभाव पड़ा।

ध्यान देने योग्य है कि दर्शन के इतिहास में उसकी परिभाषा, स्वरूप और उसकी प्रमुख समस्याओं की अवधारणा में परिवर्तन होते रहे हैं। प्राचीन काल में दार्शनिक चिन्तन के दो प्रमुख केन्द्र बने, एक भारत और दूसरा यूनान। इन दोनों क्षेत्रों में दर्शन की परिभाषा या परिकल्पना तत्त्व-सम्बन्धी मीमांसा अथवा तत्वज्ञान के रूप में की गयी। यहाँ ज्ञातव्य है कि प्राचीन काल में विज्ञानों का, भौतिक विज्ञान का भी, उदय नहीं हो सका था। फलतः विश्व-जगत् और जीवन से सम्बन्धित सारे प्रश्न दर्शन में समाहित होते थे। प्राचीन यूनान में थेलीज़ जैसे विचारकों ने यह प्रश्न पूछा कि दृश्यमान जगत् का मूल उपादान द्रव्य क्या है। विभिन्न दार्शनिकों ने उक्त प्रश्न के अलग-अलग उत्तर दिये। प्राचीन काल में आधुनिक क़िस्म की प्रयोग-विधियों का अविष्कार नहीं हुआ था, न दूरवीक्षण तथा अणुवीक्षण जैसे यन्त्रों का ही। उस युग में ज्ञान का स्रोत चक्षु आदि इन्द्रियाँ थीं और एक सीमा तक अनुमान करनेवाली बुद्धि। इन्द्रियों के अनुभव के आलोक में यूनान और अपने देश में भी यह कल्पना की गयी कि गोचर वस्तुओं का उपादान कारण पाँच या चार महाभूत हैं। यूनान के प्रारम्भिक विचारकों ने पानी, हवा, अग्नि में से एक या दूसरे महाभूत को मूल तत्त्व घोषित किया, जबकि भारतवर्ष में न्याय वैशेषिक दर्शनों ने पाँचों महाभूतों को मूल तत्त्व स्वीकर किया। उपनिषदों में महाभूतों का स्थान आत्मा या ब्रह्म ने ले लिया और दर्शन का विषय आत्मा के स्वरूप का निर्धारण बन गया। विश्व का मूलतत्व ब्रह्म या आत्मा है और दर्शन का उद्देश्य उक्त आत्मा के ज्ञान का सम्पादन है। इस प्रकार दर्शन को तत्वज्ञान के रूप में प्रकल्पित किया गया। यहाँ ध्यातव्य है कि जहाँ न्याय-वैशेषिक दर्शनों में प्रमेय अनेक हैं, वहाँ वेदान्त कही जाने वाली विचार-पद्धतियों में एकमात्र ज्ञेय तत्त्व आत्मा या ब्रह्म है।

तो, प्राचीनों के अनुसार दर्शन तत्वज्ञान है और आत्माज्ञान या आत्मान्वेषण। दर्शन की दूसरी प्रमुख शाखा ज्ञानमीमांसा है, जो ज्ञान के स्वरूप और साधनों पर विचार करती है। भारतवर्ष में इस शाखा का सबसे अधिक विकास न्यायदर्शन में हुआ, जिसने प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों को, अर्थात् उनके स्वरूप-निर्धारण को, चिन्तन का ख़ास विषय बनाया। बाहरवीं शताब्दी के बाद तो, तथाकथित नव्यन्याय के प्रवर्तन के बाद, न्यायदर्शन पूर्णतया प्रमाण मीमांसा में समाहित हो गया।

आज दर्शन की उक्त परिभाषा, यह कि दर्शन तत्त्वज्ञान या तत्त्वमीमांसा है, स्वीकार्य नहीं रह गयी है। जिसे हम तत्व कहते हैं, उसके अनेक रूप हैं। विश्व-जगत् में प्रधानता भौतिक तत्व या तत्वों की है। हमारी पृथ्वी, सौरमण्डल और असंख्य तारक-समूह भौतिक तत्वों से निर्मित है; यही बात हमारे शरीर एवं इन्द्रियों पर भी लागू है। आत्मा की सत्ता आज भी सन्दिग्ध बनी हुई है। किन्तु शरीर और भौतिक जगत् के विविध रूपों और निर्मायक तत्वों का अध्ययन विभिन्न भौतिक विज्ञान करते हैं। आज वैशेषिक दर्शन द्वारा दी गयी जल, वायु, अग्नि आदि की परिभाषाएँ प्रारम्भिक जान पड़ती हैं। प्राचीन यूनानी विचारकों और महर्षि कणाद को यह पता नहीं था कि जिसे हम वायु या जल कहते हैं, वह एक रासायनिक तत्त्व नहीं है, अपितु एकाधिक तत्वों का मिश्रण या यौगिक है। ध्यान देने की बात यह है कि यदि हम वेदान्त के इस सिद्धान्त को मानकर न चलें कि विश्व का मूलतत्त्व आत्मा या ब्रह्म है, तो यह स्वीकार करने का कोई कारण नहीं रह जाता कि दर्शन का विषय विश्व का मूल तत्त्व है। विश्व का मूल तत्व एक या अनेक कोटियों के परमाणु भी हो सकते हैं और ऋणात्मक एवं धनात्मक विद्युदणु या विद्युत-तरंगें अथवा चुम्बकीय क्षेत्र या और विद्युत क्षेत्र। निश्चय ही दर्शन इन तत्त्वों का अध्ययन नहीं कर सकता।

दर्शन के इतिहास से एक और बात सामने आती है। कहा गया है कि 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' (हर मष्तिक या खोपड़ी में अलग बुद्धि या विचार होते हैं) और यह कि 'नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्' (कोई एक भी मुनि नहीं जिसका वचन प्रमाण हो) तात्पर्य यह है कि विभिन्न दार्शनिक विचारकों ने अलग-अलग मत प्रतिपादित किये हैं।

प्राचीन काल में अपने देश में छह आस्तिक और उतने ही नास्तिक दर्शन बने। बाद में वेदान्त कहे जाने वाले दर्शन के अन्तर्गत भी लगभग उतने ही सम्प्रदाय बन गये, शैव-शाक्त दर्शन अलग बने। यदि हम पश्चिम की ओर देखे तो वहाँ प्राचीन यूनानी विचारकों से शुरू करके अब तक कई दर्जन दार्शनिक सम्प्रदाय बन-बिगड़ चुके हैं। यह स्थिति होने के कारण दर्शन के इतिहास में कई बार यह प्रश्न उठाया गया कि दार्शनिकों के बीच ऐसे भयंकर मतभेद क्यों होते हैं। (अपने देश में काफ़ी पूर्व सम्भवत: ईसा की दूसरी शताब्दी में- नागार्जुन ने समस्त व्याख्यात्मक प्रत्ययों या अवधारणाओं का खण्डन करते हुए दर्शन की चिन्तन प्रणाली के आगे प्रश्न-चिह्न लगाया)। आधुनिक यूरोपीय दर्शन के जन्मदाता फ्रांस के दार्शनिक देकार्त ने उक्त प्रश्न से उलझते हुए यह प्रतिपादित किया कि दर्शन को गणित की पद्धति अपनानी चाहिए जहाँ संशय-संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रहती।

पश्चिम के दार्शनिक-इतिहास में यह प्रश्न बाद में भी कई बार उठाया गया है। इसका प्रमुख कारण विज्ञान की निरन्तर घटित होती हुई प्रगति, जिसने आज की अभूतपूर्व औद्योगिक उन्नति एवं तकनीकी सफलताओं को सम्भव बनाया है, रही है। योरोप के चिन्तकों ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि दर्शन के क्षेत्र में क्यों निरन्तर मतभेद बने रहते हैं और क्यों वहाँ विज्ञान की प्रगति होती दिखाई नहीं देती, अनेकविध सुझाव दिये हैं। इस सन्दर्भ में यहाँ प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्राण्ड रसेल का उल्लेख किया जा सकता है। दर्शन के उस विभाग या शाखा के सामने, जिसे तत्व-मीमांसा कहते हैं, तथाकथित तर्कनिष्ठ अनुभववादियों और भाववादियों (Logical Empiricists or Positivicsts) ने विशेष प्रखर और गम्भीर या ख़तरनाक प्रश्न-चिह्न लगाया। यह सर्वविदित है कि वैज्ञानिक मन्तव्यों की परीक्षा-इन्द्रिय अनुभव में उपलब्ध अर्थात् गोचर तथ्यों की कसौटी पर की जाती है। स्थिति यह है कि परम्परागत तत्व मीमांसा के अधिकांश वक्तव्यों या मन्तव्यों की वैसी परीक्षा सम्भव नहीं है। यही कारण हैं कि तत्त्व-मीमांसा के सिद्धान्त ऐसी अटकलबाजियों का रूप ले लेते हैं, जिनका गोचर तथ्यों से सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। यही मूल

कारण है कि प्राचीन कल्पनाविलासी दर्शन एक-दूसरे का खण्डन करते हुए किसी भी मुद्दे पर एकमत नहीं हो पाते। हमारी विश्व-सम्बन्धी अवधारणाओं का सही आधार वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं सिद्धान्त ही हो सकते हैं। कहना नहीं होगा कि वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रणाली का महत्त्व उसकी सफलताओं द्वारा निर्मित प्रौद्योगिक तथा तकनीकी प्रगति से प्रमाणित है। तर्कनिष्ठ अनुभववादियों ने परम्परागत दर्शन की आलोचना करते हुए उसे आघात देनेवाली सबसे अधिक तीक्ष्ण बात यह कही कि तत्त्व-मीमांसा के कथन न केवल सही होते हैं, अपितु निरर्थक होते हैं। सार्थक कथन केवल वे हैं जिनका गोचर तथ्यों की कसौटी पर निरीक्षण किया जा सके। चूँकि परम्परित तत्त्व-मीमांसा के वक्तव्य (जैसे, आत्मा अमर है, दुनिया का रचयिता ईश्वर है, हम इस जन्म में पिछले जन्म के कर्मों का फल भोगते हैं, आदि) गोचर अनुभव या इन्द्रियज्ञान द्वारा परीक्षणीय नहीं होते-जैसे कि विज्ञान के कथन होते हैं - इसलिए वे अर्थहीन माने जाने चाहिए। तात्पर्य यह है कि अपने मन्तव्यों की परीक्षा में विज्ञान जिस प्रणाली का उपयोग करता है वही प्रणाली विश्वसनीय ज्ञान दे सकती है। दर्शन वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रणाली का आश्रय नहीं लेता, इसलिए उसकी प्रगति होती नहीं दिखाई देती और वह निरन्तर मतभेदों का क्रीड़ाक्षेत्र बना रहता है। निष्कर्ष यह है कि दर्शन का कोई मन्तव्य निश्चयात्मक नहीं हो पाता।

## दर्शन और युगीन संस्कृति

ऊपर हमने तर्कनिष्ठ अनुभववादियों का दर्शनविरोधी मन्तव्य प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार यह कथन कि 'ईश्वर जगत् का कर्ता है' अथवा 'मृत्यु के बाद आत्मा स्वर्ग या नरक में जाती है' न सही कहा जा सकता है न गलत, वह वास्तव में निरर्थक है।

यहाँ एक अजीब स्थिति सामने आती है। तर्कनिष्ठ अनुभववादियों का उक्त मन्तव्य एक प्रकार का दार्शनिक मतवाद है, न कि वैज्ञानिक। सार्थक कथन की यह परिभाषा और कसौटी कि वह इन्द्रियबोध द्वारा परीक्षणीय हो, स्वयं अपने पर लागू नहीं होती; उक्त कसौटी या परिभाषा किसी गोचर तथ्य द्वारा सत्यापनीय या परीक्षणीय नहीं है। वास्तव में वह एक प्रस्ताव मात्र है। यह प्रस्ताव हमें रुचिकर लगता है तो इसलिए कि आज हम विज्ञान की सफलता से नितान्त अभिभूत महसूस करते हैं। विज्ञान आज के युग का सबसे बड़ा सरोकार और चमत्कार है। वह दर्शन पर हावी है। ध्यातव्य है कि पश्चिम देशों में विज्ञान दर्शन नाम की दर्शन की एक नयी शाखा ही गठित हो गयी है, जिसका विशेष अनुशीलन किया जा रहा है। तथ्य यह है कि किसी भी देश या युग का दर्शन संस्कृति के उस क्षेत्र या उन क्षेत्रों को अपना विषय बनाता है जो उस देश या युग के लोगों को महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, हमारे देश के प्राचीन काल में बुद्धि सम्पन्न विचारकों का सबसे बड़ा सरोकार मोक्ष था। फलतः यहाँ मोक्ष के सम्बन्ध में नितान्त गम्भीर और विविध चिन्तन हुआ। सांख्य और वेदान्त ने मोक्ष की एक अवधारणा पल्लवित की, जैनों और बौद्धों ने दूसरी अवधारणाएँ निरूपित कीं। उक्त तीनों के अनुसार किसी-न-किसी रूप में जीव-मुक्ति सम्भव है, जबकि रामानुज आदि भक्त दार्शनिकों के मत में वैसी मुक्ति सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मोक्ष के साधनों के बारे में अनेक मत प्रतिपादित किये गये और अनेक मार्गों की सिफ़ारिश की गयी-जैसे ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, योगमार्ग और अनेकविध तान्त्रिक साधनाएँ। राजनीति के क्षेत्र में हमारे देश में प्रायः राजतंत्र चला। यूनान में मुख्यतः गणराज्य विकसित हुए। फलतः वहाँ के दार्शनिकों ने राज्य के स्वरूप और आदर्शों पर अनेकविध चिन्तन किया। वर्तमान योरप में भी जनतन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद, आदि अनेक राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिपादन हुआ। पश्चिमी देशों में यूनानियों के समय से ही नीतिशास्त्र एक महत्वपूर्ण दार्शनिक अनुशासन रहा है। अपने देश के दार्शनिक मोक्ष-दर्शन में इतनी अधिक रुचि लेते थे कि उन्होंने नैतिकता तथा राज्य-सम्बन्धी प्रश्नों को महत्त्व नहीं दिया। कर्तव्याकर्तव्य, राज्य आदि के सम्बन्ध में सोचने का भार स्मृतिकारों पर डाल दिया गया, जो चिन्तन एवं विमर्श की अपेक्षा उपदेश ही अधिक करते रहे।

# दर्शन की भारतीय अवधारणा

ऊपर हमने तर्कनिष्ठ अनुभववाद का जिक्र किया। तत्त्व-दर्शन का निराकरण करते हुए उक्त वाद के समर्थकों ने दर्शन को पुनः परिभाषित किया। उनके अनुसार दर्शन का कार्य प्रत्ययात्मक विश्लेषण (conceptual analysis) है। दर्शन विभिन्न प्रत्ययों एवं वाक्यों या प्रकथनों का विश्लेषण इस दृष्टि से करता है कि उनका इन्द्रिय अनुभव अथवा गोचर जगत से सम्बन्ध स्पष्ट किया जाये। जिस कथन का सम्बन्ध गोचर जगत से नहीं दिखाया जा सकता, उसके बारे में यह शंका होनी चाहिए कि वह सार्थक भी है या नहीं। उसी प्रकार विभिन्न दूसरे सम्प्रत्ययों का भी विश्लेषण होना चाहिए। व्यवहार में तर्कनिष्ठ अनुभववादि ध्यान मुख्यतया विज्ञान के प्रत्ययों और कथनों पर केन्द्रित किया। उनके मत में नीतिशास्त्र, धर्म आदि के क्षेत्रों कथन अनुभव-जगत से सम्बन्ध न रखने के कारण दार्शनिक विश्लेषण का विषय नहीं होते; दर्शन वैसे कथनों क संकेतित कर सकता है। दूसरे महायुद्ध का अन्त होते-होते तर्कनिष्ठ अनुभववाद स्वयं ही निराकृत होने लगा। विचारकों ने यह पाया कि जहाँ एक ओर उक्त सिद्धान्त आन्तरिक विसंगतियों से पीड़ित है, वहीं दूसरी ओर वह हमारे नैतिक निर्णयों के बारे में कोई प्रामाणिक कथन करने में हिचकता है। मानव-जाति की नैतिक एवं अध्यात्मिक जरूरतों और अनुभवों की उपेक्षा करने वाला दर्शन कालान्तर में स्वयं को बदनाम कर लेता है। यह कहना काफ़ी नहीं कि हमारे नैतिकता-सम्बन्धी कथन ऐन्द्रियबोध द्वारा सत्यापनीय या परीक्षणीय नहीं हैं और इसलिए निरर्थक हैं। नैतिकता के बिना मनुष्य अर्थपूर्ण (विशेषतः सामाजिक) जीवन नहीं जी सकता। यही बात आध्यात्मिक तथा सौन्दर्यपरक मूल्यों पर लागू होती है। वास्तव में दर्शन जीवन-मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसकी दृष्टि में वैज्ञानिक बोध भी एक प्रकार का मूल्य है, किन्तु वह बोध एकमात्र मूल्य नहीं है।

4/10

सम्प्रत्ययों (concepts) का स्पष्टीकरण भी सरल व्यापार नहीं है। तर्कनिष्ठ अनुभववाद के विरुद्ध इग्लैंण्ड के ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में एक अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय का उदय हुआ जो प्रत्ययों आदि के विश्लेषणात्मक बोध के लिए बोलचाल की भाषा का आश्रय लेता है। यहाँ इन विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का विवरण देना अभीष्ट नहीं है। इस सन्दर्भ में हम दो एक अपेक्षित बातें कहकर आगे बढ़ेंगे। हम मानते हैं कि किसी भी प्रत्यय या अवधारणा का विश्लेषण खास प्रयोजन या दृष्टि का अपेक्षी होता है। हमारी मान्यता है कि दर्शन की विशेष दृष्टि मूल्य-परक होती और होनी चाहिए। उदाहरण के लिए हम कारणता के प्रत्यय का विश्लेषण इस दृष्टि से करते हैं कि ज्ञान-प्राप्ति के अनुष्ठान में हम उसकी उपयोगिता और महत्त्व को ठीक-ठाक आँक सकें। किसी कथन के ठीक अभिप्राय का निश्चय, जो विश्लेषण द्वारा सम्भव होता है, यह जानने के लिए किया जाता है कि वह कथन कहाँ तक यथार्थ या वास्तविकता को पकड़ता या पकड़ पाता है। वैज्ञानिक बोध का विश्लेषण भी इसी दृष्टि से किया जाता है-अर्थात यथार्थ की सम्बद्धता में उसकी सत्यता या सत्यांश का निर्धारण करने के लिए। जिसे हम विज्ञान-दर्शन कहते हैं उसका, दर्शन की निजी दृष्टि में यही उपयोग है कि वह वैज्ञानिक शोध के स्वरूप और सीमाओं की समुचित अवगति या जानकारी दे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दर्शन का मुख्य कार्य विभिन्न कोटियों के बोधों या अनुभवों की समीक्षात्मक अवगति है। यहाँ याद रखना चाहिए कि दर्शन उसी अनुभव का विचार कर सकता है जो भाषाबद्ध किया जा चुका है, अर्थात् प्रकथनों के रूप में प्रकट हो चुका है।

किन्तु विज्ञान-दर्शन, जो वैज्ञानिक बोध की समीक्षा करता है, विज्ञान की सहायक विद्या मात्र नहीं है। दर्शन का उद्देश्य साक्षात् रूप में वैज्ञानिक अन्वेषणों को अग्रसर करना भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि दर्शन नामक विद्या विज्ञान की परिचारिका भर नहीं है। माना जा सकता है कि वैज्ञानिक अन्वेषण महत्त्वपूर्ण वस्तु है, आज के युग में यह बात स्वयं सिद्ध जान पड़ती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वर्तमान युग में जीवन के दूसरे मूल्यों और उनका अन्वेषण महत्वपूर्ण नहीं रहे। हम जानते हैं कि काव्य, कला, संगीत तथा नैतिकता मानव-जीवन के लिए सदा से महत्त्वपूर्ण रहे हैं और आगे भी रहेंगे। दर्शन हमारे सभी ऐसे मूल्यों के

स्वरूप का विचार करता है जो मानव एवं जीवन को गुणात्मक उत्कर्ष देने वाले हैं। हम मानते हैं कि वैज्ञानिक शोध एवं चिन्तन भी केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं, वे मानव बुद्धि या मस्तिष्क को गुणात्मक वैशिष्ट्य भी प्रदान करते हैं। वास्तव में वह प्रत्येक क्रिया को, जो केवल उपयोगिता के लिए नहीं होती अपितु मानव-व्यक्तित्व को गुणात्मक उत्कर्ष देने वाली होती है, दर्शन का विषय है। उपयोगी क्रियाएँ धन-सम्पत्ति तथा शक्ति के लिए अनुष्ठित होती हैं। वे मुख्यतः मनुष्य के भौतिक तथा जैवी जीवन को प्रभावित करती हैं, वे खास तरह के मनोभावों की पुष्टि के लिए ही हितकर होती हैं। किन्तु वे व्यक्तित्व का गुणात्मक विकास करती हैं, इसमें सन्देह है। हमारे व्यक्तित्व का वैसा विकास निष्काम भाव से ज्ञान-सम्पादन, नैतिक कर्म (जिसका उद्देश्य न्याय- धर्म की रक्षा एवं परहित-साधन होता है) तथा काव्य- साहित्य एवं कलाओं के आस्वाद द्वारा घटित होता है। हम मानते हैं कि दर्शन का कार्य उन सब मानवीय क्रियाओं की समीक्षित चेतना है, जिनका लक्ष्य गुणात्मक उत्कर्ष की प्राप्ति है-अथवा ऐसे आनन्द की प्राप्ति जो व्यक्तित्व की गुणात्मक ऊर्ध्व गति से सहचरित रहता है। विशेषतः काव्य-साहित्य और विभिन्न विद्याओं का अनुशीलन उक्त कोटि की क्रियाएँ हैं।

नैतिक कर्तव्य का पालन प्रायः सदैव सन्तोषकर होता है, भले ही उस कर्तव्य पालन के लिए धन, समय, शक्ति आदि का कष्टकर व्यय करना पड़े। कर्तव्य-पालन का सुख दूसरे सुखों से भिन्न कोटि का होता है। वह अन्तरात्मा का सुख होता है। जो महाप्राण व्यक्ति को अपने स्वार्थ का हनन करके परहित-साधना करता है, उसे ख़ास तरह का आनन्द होता है। गुणात्मक दृष्टि से यह आनन्द उच्चतर नैतिक धरातल पर संक्रमण या विचरण करने का आनन्द है। तात्पर्य यह है कि स्वभावतः अपनी चेतना-वृत्तियों के उत्थान की कामना करता है। जब कोई ग्रन्थ, कलाकृति या शास्त्रीय आलेख हमारी चेतनाओं को वैसे उन्नयन या उत्थान का अवसर देता है तो वह रुचिकर एवं आनन्दप्रद प्रतीत होता है।

हमारी धारणा के अनुसार उक्त कोटि के गुणात्मक प्रभेदों को देखना, समझना-और समझाने के लिए व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना करना-दर्शन का प्रमुख कार्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जहाँ विभिन्न भौतिक विज्ञान अपने क्षेत्र के तत्वों या शक्तियों का मात्राधर्मी अध्ययन करते हैं, वहाँ दर्शन की विभिन्न शाखाएँ विभिन्न कोटियों के गुणात्मक प्रभेदों का अनुशीलन करती हैं। विज्ञान का बोध हमें वस्तुओं एवं शक्तियों पर नियंत्रण की क्षमता देता है, दर्शन का कोई अंग वैसी क्षमता नहीं देता। वह केवल हमारी दृष्टि या चेतना का विस्तार एवं गुणात्मक परिष्कार करता है। इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर हम पायेंगे कि जिन्हें हम मानवीय विद्याएँ कहते हैं। अर्थात नर विज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि-उनकी स्थिति कहीं भौतिक विज्ञानों और दर्शन के बीच में है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जहाँ विज्ञान और यहाँ हमारा मतलब मुख्यतः भौतिक विज्ञानों से है, हमें भौतिक परिवेश पर अर्थात प्राकृतिक जगत पर नियन्त्रण की क्षमता देता है, वहीं दर्शन का कार्य हमारे गुणात्मक बोध और जीवन को आगे बढ़ाता है। कहना ना होगा कि यह बोध और क्रियाएँ हमारे आन्तरिक, प्रतीकबद्ध या भाषाश्रित जीवन का अंग हैं।

## क्या दर्शन आत्मज्ञान है ?

प्राचीन उपनिषद् अथवा वेदान्त और दूसरे भारतीय दर्शन भी यह प्रतिपादित करते हैं कि मोक्ष के साधक को आत्मज्ञान सम्पादित करना चाहिए। फलतः भारतवर्ष में क्रमशः यह मत ग्राह्य हुआ कि दर्शन का प्रमुख लक्ष्य आत्म-बोध है-जो मोक्ष प्राप्ति का अन्यतम साधन है। ध्यातव्य है कि भारतीय दर्शन मनुष्य में ही नहीं, पशु-पक्षियों एवं कीट-पतिंगों में भी समान आत्माओं की उपस्थिति मानता है। इसके विपरीत ईसाई धर्म में माना जाता है कि आत्मा केवल मनुष्य में होती है, अन्य प्राणियों में नहीं। भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में दूसरी महत्व की बात यह है कि आत्मा एकरूप, निर्विकार मानी जाती है। उसके स्वरूप को सदा के

लिए जान लिया जा सकता है। हमारा मत इस परम्परागत मन्तव्य से भिन्न है। हमारे अनुसार साहित्य और दर्शन दोनों का विषय मनुष्य है। साहित्य में हम प्रकृति तथा दूसरे जीवों को मनुष्य की दृष्टि से देखते और बोध का विषय बनाते हैं। तुलसीदास ने कहा कि काव्य साहित्य का वास्तविक कार्य ईश्वर का गुणगान होना चाहिए न कि प्राकृत नर का। इसके विपरीत हम साहित्य में मनुष्य को ही प्रतिष्ठित करने की सिफ़ारिश कर रहे हैं। राम और कृष्ण वहीं तक काव्य साहित्य के विषय बन सके, जहाँ तक उन्होंने मनुष्योजित कार्य-कलाप किये।

इस प्रकार-जैसा कि अंग्रेज़ी कवि पोप ने कहा है-हमारे और दर्शन के, अध्ययन-अनुशीलन का प्रमुख, शायद एकमात्र, विषय मनुष्य है। और यहाँ यह दृष्टव्य है कि मनुष्य एक ऐतिहासिक एवं विकासशील प्राणी है। मनुष्य का ज्ञान निरन्तर विकसित हो रहा है, जिसका मतलब है कि उसकी चेतना निरन्तर प्रसरणशील है। यह चेतना तथ्य-जगत से सम्बन्धित रहती है, और मूल्य-जगत से भी। तात्पर्य यह कि मनुष्य का जगत्-बोध, आत्म-बोध एवं मूल्य-बोध ये सब निरन्तर परिवर्तित और विकसित हो रहे हैं। प्राचीन संस्कृत भाषा में जहाँ 'संसार' एवं 'जगत्' विश्व की गतिमयता को रेखांकित करते हैं, वहाँ पृथ्वी के 'अचला' जैसे नाम यह बताते हैं कि प्राचीन लोग धरती की गतिमयता से परिचित न थे। मतलब यह है कि आज का खगोलशास्त्र प्राचीन खगोलविद्या से भिन्न है, इसी प्रकार हमारा प्रकृति-जगत का ज्ञान निरन्तर बदलता-विकसता रहा है। वैसे ही हमारे मूल्यबोध में भी परिवर्तन हुआ है, होता रहा है। आज के जनतन्त्री युग में हम यह स्वीकार नहीं करते कि तथाकथित राजा या शासक में देवता निवास करता या करती है, या यह कि वह मनुष्य रूप में देवता होता है। इसी प्रकार आज हम स्त्री के सतीत्व को उतना महत्व नहीं देते और न नौकरों की नमकहलाली पर ही निर्भर कर पाते हैं। आज फ़ैक्ट्री के मज़दूर यूनियन बनाते और विद्रोह का पाठ पढ़ते हैं। आज के बेटा-बेटी माता-पिता का उतना आज्ञा-पालन और सेवा नहीं करते जैसा कि श्रवण कुमार की और राम की कथा में प्रतिफलित है।

आज हम वेदों और शास्त्रों में भी पूर्व युगों की जैसी आस्था नहीं रखते। आज के अनेक हिन्दू मृतक बाप-दादा का श्राद्ध करना, उनके उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष ब्राह्मणों को खिलाना आवश्यक कर्तव्य नहीं मानते। तात्पर्य यह है कि आज का नीतिबोध पुराने युगों से नितान्त भिन्न होता जा रहा है। ध्यान देने की बात यह है कि इस परिवर्तित मूल्यबोध और जगतबोध का भी वाहक मनुष्य होता है। इस मनुष्य का, इन्हीं कारणों से, चेतनाधर्मी स्वभाव या स्वरूप बदलता जा रहा है। दर्शन इस बदलते विकसित होते हुए चेतनाधर्मी मनुष्य के स्वरूप का अध्ययन-अनुशीलन है। जहाँ विभिन्न मानवीय विज्ञान उक्त मनुष्य को यथार्थ स्थिति या यथार्थता को पकड़ने की कोशिश करते हैं, वहाँ दर्शन उसका अनुशीलन मनुष्य के गुणात्मक विकास की दृष्टि से करता है। एक और बात है। दर्शन जिस मनुष्य का अध्ययन करता है वह मात्र इन्द्रियगोचर भौतिक इकाई नहीं है। मनुष्य नाम का प्राणी अपनी विकासमान, चेतनाधर्मी संस्कृति का वाहक है; उस संस्कृति का जो मुख्यतया भाषा आदि के प्रतीकों में रूप में लाभ करती है और जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत के रूप में संक्रान्त होती चलती है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि दर्शन का विषय मनुष्य की वे प्रतीकबद्ध सांस्कृतिक क्रियाएँ अथवा सांस्कृतिक रचनाएँ हैं जो प्रतीकों का आश्रय लेकर अपने को आपेक्षिक अर्थ में स्थिर बनातीं चलती हैं। दर्शन मनुष्य का अध्ययन है, लेकिन वह मनुष्य के भौतिक अस्तित्व या व्यक्तित्व का अध्ययन नहीं करता। इसके विपरीत वह मनुष्य की उन सांस्कृतिक क्रियाओं का अनुशीलन करता है जो उसमें गुणात्मक उत्कर्ष का आधान करती हैं। इस अर्थ में दर्शन मनुष्य की उच्चतम सांस्कृतिक क्रियाओं की आत्मचेतना है। दर्शन मनुष्य के सांस्कृतिक आत्म (Cultural self) का अनुशीलन और बोध है।

ऊपर हमने दर्शन के स्वरूप की मानववादी व्याख्या प्रस्तुत की। प्रश्न है, किसी भी समस्या के सन्दर्भ में दर्शन का प्रस्थान बिन्दु क्या होता है या होना चाहिए। किसी भी विज्ञान या वैज्ञानिक चिन्तन का प्रस्थान बिन्दु प्रायः कोई समस्या होती है, ऐसी समस्या या प्रश्न जो विज्ञान विशेष की सुथरे ढंग से बढ़ती या होती-गति प्रगति में अटकाव डालती है। दर्शन के क्षेत्र में अटकाव डालने वाली समस्या प्रचलित मूल्यबोध के एक या दूसरे क्षेत्र में घटित क्रान्ति या दूरगामी परिवर्तन होता है। सामान्यतया, समीक्षात्मक अवगति का वाहक होने के नाते, दर्शन मूल्यों के क्षेत्र में तर-तम भाव के निरूपण एवं व्याख्या का प्रयत्न करता है। यह निरूपण और व्याख्या युगीन मूल्य चेतना से सम्बद्ध रहती है। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्षेत्र में दर्शन अपने-देश काल की मूल्य-सम्बन्धी तर-तम भाव की प्रचलित दृष्टि का स्पष्टीकरण एवं उसे सैद्धान्तिक आधार देने का प्रयत्न होता है। दूसरी दृष्टि से वह प्रचलित मान्यताओं की समीक्षा और उन्हें नयी दिशा देने की कोशिश कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, मनु के समय में भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था कायम हो चुकी थी।

मनु से पहले पुरुष-सूक्त में, स्वयं मनुस्मृति तथा अन्य धर्म-सूत्र-ग्रन्थों में और बाद में विभिन्न पुराणों में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था को सृष्टिप्रलय की गाथाओं अथवा दूसरी कथाओं के रूप में सैद्धान्तिक आधार देने का प्रयत्न किया गया। दर्शन में पुनर्जन्म और विगत जन्मों के कर्म-फल आदि के रूप में वर्ण-व्यवस्था का सैद्धान्तिक मण्डन प्रस्तुत किया गया। आज के प्रगतिशील विचारक वर्णभेद, रंगभेद आदि की व्यवस्था को नहीं मानते, फलतः आज का दर्शन अर्थात राजनीति-दर्शन एवं राज्य व्यवस्था का सिद्धान्त जनतंत्री विचारधारा का आश्रय लेकर वर्णभेद एवं रंगभेद का खण्डन करते हुए समस्त मानव-जाति की समानता का प्रतिपादन करता है। ईसाई धर्म के इतिहास में ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्य समान हैं, इस मान्यता के आधार पर मनुष्यों की समता पर बल दिया गया है। इसी प्रकार आज के युग में स्त्री के पातिव्रत्य अथवा एक पति के प्रति निष्ठा का उतना महत्व नहीं रह गया है, पश्चिमी देशों में स्त्री पुरुष के समान अधिकार माँगती और पति से अपमान या अवज्ञा पाकर तलाक दे देती है। आज हमारे देश में भी पति की मृत्यु के बाद विधवा द्वारा आत्मदाह के समर्थक नहीं रह गये हैं और विधवा का पुनर्विवाह भी बुरी बात नहीं समझी जाती। अमेरिका आदि पश्चिमी देशों में अब तलाकशुदा महिला को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता। इस प्रकार के मूल्यबोध-सम्बन्धी परिवर्तनों को समझने-समझाने और व्याख्यात्मक तथा सैद्धान्तिक आधार देने का प्रयत्न दर्शन का प्रमुख कार्य है।

नैतिक बोध की भाँति अध्यात्म अथवा रिलीजन के क्षेत्र में भी मनुष्य का मूल्यबोध बदल रहा है। आज हम उस कर्मयोगी सन्त को, जो गाँधी की भाँति जनहित में त्याग का जीवन व्यतीत करता है, अधिक मान्यता देते हैं-उस सन्त की अपेक्षा जो हिमालय की कन्दराओं में प्रविष्ट होकर मोक्ष-साधना करने का आडम्बर करता है। द्रष्टव्य है कि परम सन्त रामकृष्ण परमहंस ने अपने प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द को देश को नया जागरण-सन्देश और विवेक देने की प्रेरणा दी थी। दर्शन का एक महत्वपूर्ण अंग, कहना चाहिए उसका आधारभूत अनुशासन, ज्ञान-मीमांसा है, जिसमें ज्ञान के सम्पादन एवं प्रमाणीकरण की प्रक्रियाओं पर विचार होता है इधर घटित हुई विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति ने दार्शनिक जगत् में खलबली उत्पन्न कर दी है। प्रश्न उठता है कि दार्शनिक विचारकों के बीच इतने अधिक मतभेद क्यों बने रहते हैं ? इस प्रश्न का समुचित समाधान दर्शन की ज्ञान-मीमांसा नामक शाखा को दूरगामी, तलस्पर्शी आत्म-समीक्षण की चुनौती और प्रेरणा देता है।

प्रश्न है, अन्ततः दर्शन के वक्तव्य किस चीज के बारे में होते हैं ? दर्शन के किसी क्षेत्र में परस्पर विरोधी या भिन्नता रखने वाले वक्तव्यों या प्रकथनों के बीच सही-ग़लत का कैसे निर्णय किया जाये ? क्या दर्शन के किसी क्षेत्र में निश्चयात्मक ज्ञान हो सकता है ? क्या दर्शन के क्षेत्र में कुछ ऐसे तत्व होते हैं, जिनके आधार पर विभिन्न मन्तव्यों को सही या ग़लत अथवा अंशतः सत्य घोषित किया जा सके ? ये बड़े प्रश्न हैं, इन और ऐसे प्रश्नों पर प्रत्येक युग के विचारकों को नये सिरे से सोचना पड़ता है। आज हमारे देश के दर्शन में गतिरोध की स्थिति है। यदि हमारे विचारक उक्त प्रश्नों पर ज़िम्मेदारी से और स्वतंत्र भाव से, पूर्व और

पश्चिम की इधर तक की दार्शनिक प्रगति के आलोक में, गम्भीर चिन्तन शुरू करें तो निश्चय ही हमारे दर्शन को नयी गति और मौलिक दिशा या दिशाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

कुछ पुराने शिक्षक यह मान्यता रखते हैं कि दर्शन के प्रश्न और समस्याएँ सर्वकालिक हैं और यह कि उनके बारे में प्राचीन युगों का चिन्तन आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि पूर्व युगों में था। इस मानसिकता को पालते हुए दर्शन के कुछ विद्यार्थी और पोषक यह समझते हैं कि दर्शन के विशिष्ट क्षेत्र में नये चिन्तन की अपेक्षा नहीं है और यह कि प्राचीन दर्शनों का अनुशीलन जीवन की अर्थवत्ता एवं लक्ष्य के बारे में सर्वकालीन प्रासंगिकता रखता है।

किन्तु यह धारणा सर्वथा स्वीकार करने योग्य नहीं है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि प्राचीन विचारकों द्वारा संकेतित धर्म, अर्थ तथा काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ आज भी सर्वग्राह्य हैं। किन्तु तथ्य यह है कि प्रत्येक युग और समाज उक्त पुरुषार्थ को अपने ढंग से परिभाषित तथा व्याख्यायित करता है। हमारे प्राचीन स्मृतिकार तथा धर्मसूत्रों के प्रणेता समाज-व्यवस्था और व्यक्ति-जीवन की चर्या के बारे में कुछ विचार रखते थे, आज वे विचार अपने मूल रूप में ग्रहण नहीं किये जा सकते। आज विभिन्न कार्यक्षेत्रों में रिटायरमेण्ट अथवा सेना-निवृत्ति की अवस्था स्वीकार की जा सकती है, सम्भवतः पुराने युगों में तुलनीय नियम नहीं थे। उस समय आदर्श स्थिति यह समझी जाती थी कि व्यक्ति पचास वर्ष पार करते हुए वानप्रस्थी बन जाए और इसके बाद संन्यासी। आज जनसंख्या के विस्फोट के युग में धरती पर ऐसे स्थान नहीं रह गये हैं जहाँ वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों में प्रविष्ट होने वाले जन फल आदि का आहार लेते हुए जीवन-यापन कर सकें। यों आज भी श्री अरविन्द, महर्षि रमण तथा गाँधी जी के कुछ अनुयायी आश्रमों में रहने की सुविधा पा सके हैं, किन्तु वस्तुतः वैसी सुविधाएँ हर किसी को उपलब्ध नहीं हैं। निष्कर्ष यह कि इतिहास के बदलते माहौल में हमारी जीवन सम्बन्धी समस्याओं एवं मान्यताओं का स्वरूप भी बहुत कुछ बदल गया है। ध्यातव्य है कि हमारे दर्शन और हिन्दू-संस्कृति के अन्यतम व्याख्याता डॉ॰ राधाकष्णन् प्राचीन अर्थ में न वानप्रस्थी बने न संन्यासी।

दार्शनिक चिन्तन के उपयोग को समझने की कोशिश में प्रस्तुत लेखक ने यह अभिमत प्रकट किया है कि दर्शन किसी संस्कृति का आत्मावगति (self-awareness) है। उक्त मान्यता को हम दो उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे। आज का युग जनतन्त्र का युग कहा जाता है। जनतंत्र के तहत प्रायः समस्त नागरिकों को समान अधिकार होते हैं। आदर्श जनतंत्र में समस्त नागरिकों, विशेषतः उनकी सन्तानों को समान सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए। इन सुविधाओं में शिक्षा तथा योग्यता के अनुरूप जीविका की सुविधाएँ मुख्य हैं। दूसरे, वर्तमान युग में जाति या वर्ग-विशेष के अन्तर्गत जन्म लेने को महत्व नहीं दिया जाता। यह दूसरी बात है कि प्रत्येक बालक को उसके स्वाभाविक रुझानों एवं योग्यता के अनुरूप शिक्षा एवं कार्य-क्षेत्र का प्रावधान उचित समझा जाता है। जन्मना जाति का सिद्धान्त आज किसी सभ्य समाज में ग्राह्य नहीं माना जाता। जर्मनी के तानाशाह हिटलर का विचार था कि जर्मन लोगों तथा आर्य-जातियों को इतर समूहों पर शासन करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। हिटलर ने यहूदी कहे जाने वाले जन-समूहों को जर्मनी से निकाल बाहर करने की पेशकश की। ध्यातव्य है कि कथित यहूदी जाति के सदस्य विशेषतः इधर के इतिहास में, विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य करते रहे हैं। उदाहरण के लिए इधर वैज्ञानिक अन्वेषण एवं आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में कई जर्मनी विचारकों ने उल्लेखनीय नये विचार दिये हैं। यह एक ऐतिहासिक संयोग है कि बीसवीं शती के कतिपय प्रख्यात वैचारिक नेता यहूदी थे, जैसे मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड, आर्थिक-रातनीति मार्क्स और भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अलबर्ट आइन्स्टाइन।